रात

हम घूमते हैं,

उन गलियों में

जहाँ की शामें व्यापार से रजगज रहती हैं।

(जूलियँ लमेर, पारी ओ गा, 1861)

सत्रहवीं सदी में रात की दो सरहदें—जो अब तक अज्ञात परिधि (Terra Incognita) थीं—को पहचान लिया गया और उन्हें एक झटके में खोल दिया गया। पुलिस ने स्ट्रीट लाइटिंग स्थापित करके रात पर विजय और नियंत्रण हासिल कर लिया। इस व्यवस्था पालन की रोशनी के साथ-साथ आतिशबाज़ी और पटाखों के तड़क-भड़क वाले त्यौहारों के रूप में एक उत्सवों की रोशनी भी विकसित हुई। मिशेल द प्योरे ने अपनी रचना इदे दे स्पेक्ताक्ल ऑन्सिएन ए नूवो (1688) में लिखा: 'न तो कोई और इससे शानदार नज़ारा है और न सार्वजनिक उत्सवों में कोई और चीज़ इससे ज़्यादा लोकप्रिय है। तक़रीबन सभी देशों में यह किसी महान विजय के आनंद की अभिव्यक्ति का माध्यम है।'[1]

आनंद को अभिव्यक्त करने के लिए आग का प्रयोग एक प्राचीन परम्परा है। अपने सबसे पुराने रूप में यह हाथ सेंकने वाली आग—अलाव (बॉन फ़ायर) थी। आम तौर पर यह लकड़ियों का एक ढेर होती थी जो तेज़ रोशनी देते हुए राख होता चला जाता था। यहाँ आग, ध्वंस और रोशनी एक-दूसरे में जज़्ब होकर ऐसे चित्ताकर्षक और जटिल अनुभव को जन्म देते थे जो सामान्य चमक से कहीं बढ़कर था। आदिम अलाव को चूल्हे की आग का एक उच्छृंखल संस्करण कहा जा सकता है। यह दैनिक तनावों से मुक्ति दिलाने वाले उन्माद का प्रवाह था। बाद में अलाव की जगह उत्सवों पर होने वाली रोशनी और आतिशबाज़ी ने ले ली और इस तरह आग की पाशविक शक्ति को व्यवस्थित, अनुशासित और नियंत्रित कर लिया गया। हज़ारों मोमबत्तियों और आतिशबाज़ियों से ऐन मनचाही रेखागणितीय छवियाँ बनती थीं। आतिशबाज़ी के महारथी अपने संप्रभु शासक की विलक्षणता सिद्ध करने के लिए दरबारों को रोशनी से सजाया करते थे। इसके बावजूद इन तमाशों में भी उस आदिम अलाव से मिलने वाले संतोष का अंश बचा रहा। हद तो यह है कि सत्रहवीं सदी के फ़्रांस में इसे अभी भी उसी नाम से जाना जाता था: फ़ द ज़्वॉई (feux de joye)। आख़िरकार उन सबमें आग के गोले, चिंगारियों की फुलझड़ियाँ और शानदार ढंग से फटने वाले रॉकेट ही तो होते थे। संक्षेप में, यह अलाव की तरह चौंधियाने वाली रोशनी का एक निरंतर परिवर्तनशील नज़ारा था। जब उजाले और आतिशबाज़ी को सौंदर्य के मानकों के अनुरूप ढाल लिया गया तब भी आग की आदिम शक्ति कई बार आतिशबाज़ियों के अनपेक्षित प्रदर्शन में बदल जाती थी।[2]

रोशनी के तमाशे बारोक़ काल की उत्सवी संस्कृति का हिस्सा थे। इनसे रात में होने वाले उत्सवों के दौरान रोशनी की जाती थी। रात में होने वाले उत्सव इंतवुनम कालीन दरबारी संस्कृति का एक सबसे

उल्लेखनीय आविष्कार थे। मध्य और पुनर्जागरण काल में सभी त्यौहार और ख़ुशी के मौक़े दिन के उजाले में ही मनाए जाते थे। अब इनकी शुरुआत सूरज ढलने के बाद होने लगी। '8 या 9 बजे थिएटर शुरू होते हैं, आधी रात के समय खाना खाया जाता है और उसके बाद पौ फटने तक नाच-गाना चलता है। और जब घोड़ा गाड़ियाँ सुबह के समय दरबार से निकल कर घर के लिए रवाना होती हैं तो रास्ते में उनकी मुठभेड़ मज़दूरों से होती है जो काम पर जाने के लिए निकल रहे होते हैं।'[3] रिचर्ड एलिविन के ब्यौरे से उत्सवों के समय में आए इस बदलाव के पीछे निहित उद्देश्यों का संकेत मिलता है। जब कामकाजी लोग सो रहे हों उस समय आनंद में डूब जाने और जब कारीगर और शहरी लोग अपना काम शुरू कर रहे हों उस समय सोने के लिए जाने से चीज़ों का सामान्य क्रम उलट गया। इस सामाजिक विशेषाधिकार ने शाम के मनोरंजन में और रस पैदा कर दिया। इसमें वे सब गुण और अवस्थाएँ भी शामिल हो गई जो न जाने कब से दिन के विलोम के रूप में रात के साथ जुड़ी हुई थीं। रात के समय वो इलाक़े खुल जाते थे जो दिन में लोगों के लिए बंद रहते थे; रात का समय आदमी को ब्रह्मांड के साथ और क़रीब ला देता था; इस समय निश्चित आकार पिघलने लगते थे और यथार्थ व फ़ंतासी के

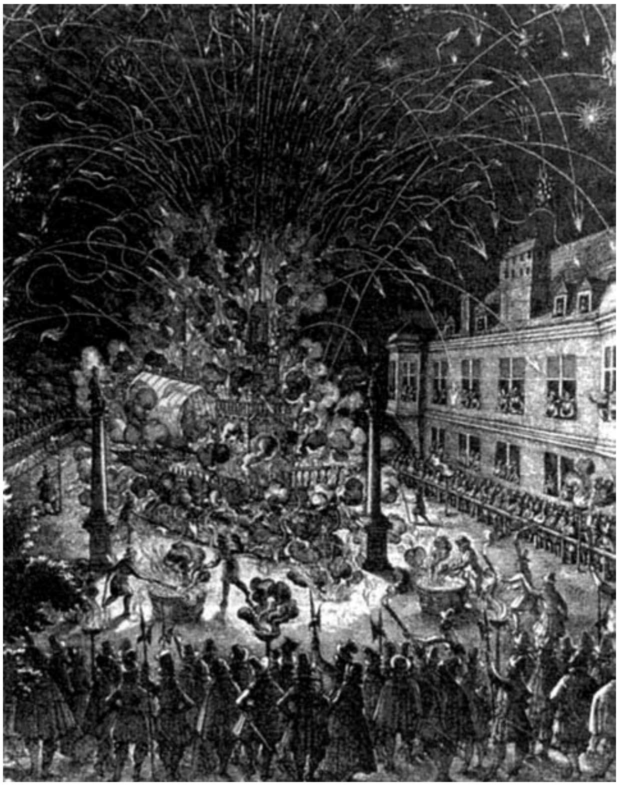

आतिशबाज़ी स्टुटगार्ट, 1616.
मेरिआन के इस चित्र में बारीक़ आतिशबाज़ी की जड़ें मध्यकालीन बॉनफ़ायर में स्पष्ट दिखती हैं। आतिशबाज़ी जहाज़ की शक्ल वाले लकड़ी के ढाँचे पर से की जाती थी जिसे आतिशबाज़ी के ख़त्म होने पर जला दिया जाता था।

बीच की विभाजक रेखा धुंधला जाती थी। जब किसी उत्सवी आतिशबाज़ी के दौरान रात जादुई ढंग से रोशन हो उठती थी तो यथार्थ से विच्छेद पूरा हो जाता था। यह किसी नशीली दवा के असर जैसा था। जैसा कि एलिविन कहते हैं, 'एक भिन्न, प्रतीकात्मक जीवन का दृश्य' अस्तित्व में आ गया।

रात की बारोक़ (baroque) संस्कृति ने आधुनिक रात की ज़िंदगी के बीज बो दिए। अठारहवीं सदी के युरोपीय शहरों में जन्म लेने के बाद आगे चलकर यह मौजूदा शहरी जीवन की एक विशिष्टता बनती चली गई। इसकी शुरुआत इंग्लैंड में सन 1700 के आस-पास हुई जब वहाँ वॉक्सहॉल और रैनेलैघ जैसी आनंद वाटिकाओं की स्थापना हुई थी। उन्हें दरबारी उत्सवी संस्कृति के व्यावसायिक अनुकरण की संज्ञा भी दी जा सकती है। इनमें दाखिल होने के लिए टिकट ख़रीदना पड़ता था और वहाँ संगीत कार्यक्रम, रोशनी और आतिशबाज़ियों का प्रदर्शन होता था। वहाँ ज़ायकेदार खाने-पीने की व्यवस्था रहती थी और कभी कभार नाच गाने का भी प्रबन्ध किया जाता था। हालांकि ये बाग़-बग़ीचे दिन में भी खुले रहते थे मगर उनकी असली रौनक रात में ही परवान चढ़ती थी। वॉक्सहॉल में इसका समय 6 से 8 बजे के बीच था जो साल-दर-साल बढ़ता चला गया।[4] सन 1777 में होरेस वॉलपोल ने कहा था कि 'अब देर रात गए मज़ा आता है। ख़ास दिखने के लिए अब हर कोई देर से आना चाहता है। और, क्योंकि हर शख़्स इसी जद्दोजहद में मुब्तिला है चुनाँचे कोई भी इसमें कामयाब नहीं हो पाता। आजकल फ़ैशन यह है कि रैनेलैघ में उस समय जाया जाए जब वहाँ समारोह दो घंटे पहले ही "ख़त्म" हो चुका हो।'[5] अठारहवीं सदी में ये महज़ कोई वक़्ती फ़ैशन नहीं था; ये एक अच्छा-ख़ासा आंदोलन था।

दरबारी समाज के लोग खुद को बुर्ज़ुआ वर्ग से अलग करने वाले फ़ासले को उजागर करने के लिए रात और दिन, कभी भी देर तक काम करते दिखायी देते थे। अब बुर्ज़ुआ वर्ग भी निम्न पूंजीपति वर्ग और कारीगरों से ख़ुद को अलग दिखाने के लिए ऐसा ही करने लगा। कोई व्यक्ति दिन की शुरुआत जितनी देर से करता उसकी सामाजिक हैसियत उतनी ही ऊँची मानी जाती। नतीजतन हर चीज़ देर से देरतर शुरू होने लगी। तब से जल्दी उठ जाना और जल्दी सो जाना सादा जीवन की निशानी बन गया। देर से जागना, ऑफ़िस में देर से पहुँचना (और शायद वहाँ देर तक रुकना भी), शाम को (निचले वर्गों की तरह सीधे-सीधे काम बंद कर देने की बजाय) लम्बी अड्डेबाज़ी के बाद देर से खाना खाना, और देर से सोना—यह ऊपरी सामाजिक दायरे की ख़ासियत बन चुकी है। खाने के वक़्त का क्या हश्र हुआ ये जानना भी मज़ेदार है। जैसा कि 1801 के पेरिस के रिवाजों के इस विवरण से पता चलता है:

> 'दो सौ साल पहले पेरिस के लोग अपना मुख्य भोजन (dinner) दोपहर बारह बजे लेते थे। अब कारीगर दोपहर बाद 2 बजे, व्यापारी 3 बजे और क्लर्क 4 बजे खाना खाते हैं। नवधनाढ्य, उद्यमी और वित्तीय दलाल 5 बजे तथा मंत्री, उनके सहायक और कुंवारे रईस 6 बजे खाना खाते हैं। इनमें अन्तिम श्रेणी के लोग अपना डिनर उस समय ख़त्म करते हैं जिस समय हमारे बाप-दादा अपना शाम का खाना खाने के लिए बैठ रहे होते थे। पेरिस के तीन-चौथाई लोग अब रात में खाना ही नहीं खाते। उनमें से आधे लोगों ने किफ़ायत की वजह से इस रिवाज को अपना लिया है। जो रात का खाना खाते भी हैं वह भी 11 बजे खाना शुरू करते हैं और उस वक़्त सोने जाते हैं जब मज़दूरों के जागने का समय हो जाता है।'[6]

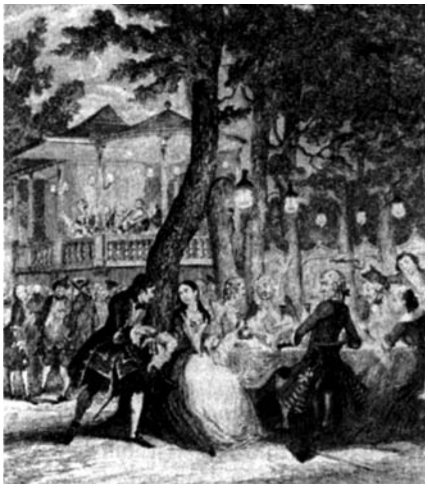

शाम के वक़्त वॉक्सहॉल गार्डन
(जॉर्ज क्रुइकशैंक कर चित्र, सायन्स म्यूज़ियम, लंदन)

लुई XIV के समय थिएटर 4 से 7 बजे के बीच शुरू होते थे। अठारहवीं सदी में उनके खुलने का समय सवा पाँच बजे निर्धारित कर दिया गया। रंगशाला में रंगमंचीय प्रदर्शन लगभग रात 9 बजे ख़त्म होते थे।[7] देर रात तक चलने वाले प्रदर्शनों के बारे में जो वर्णन हमें बालज़ाक के उपन्यासों में मिलता है वह क्रांति के बाद तक भी सामान्य बात नहीं थी। थिएटर या ऑपेरा के बाद खाना होता था या लोग कैसीनों जाते या नाचघर जाते थे या फिर वेश्यालयों का रुख़ करते थे। शाम का अन्त आम तौर पर सुबह के तीन बजे होता था जब मौज-मस्ती कर घर लौटने वालों का सामना काम पर निकलने वाले मज़दूरों से होने लगता था।[8]

दिन—या बल्कि रात का—नया क्रम न केवल मौज मस्ती करने वाले वर्गों और कामकाजी आबादी के बीच सामाजिक दूरी को चिन्हित करता था बल्कि महानगर और शेष प्रान्तों के बीच मौजूद फ़र्क़ को भी उजागर करता था। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में जर्मन सैलानी, जिनमें शहज़ादे और कारीगर दोनों ही होते थे, इस बात पर अकसर हैरत जताते थे कि पेरिस और लन्दन कितनी देर तक जगे रहते हैं। राजकुमार पुकलर ने लन्दन से अपने घर सैक्सनी चिट्ठी लिखते हुए बताया कि यहाँ 'ऑपेरा सवेरे एक बजे तक भी ख़त्म नहीं होता। 3-4 बजे से पहले बमुश्किल ही कोई घर पहुँचता है ...। मगर कुलीन समाज दोपहर दो बजे से पहले जागता भी नहीं।'[9] परन्तु जिस संभ्रांत वर्ग में पुकलर जैसे लोग घूमते थे वही एकमात्र ऐसा दायरा नहीं था जो इतनी देर तक जागता और मस्ती करता था। यही हालत जनता के व्यावसायिक और मनोरंजन केन्द्रों की थीः 'कारख़ाने और दुकानें ज़्यादातर आधी रात तक खुली रहती हैं परन्तु इसके बाद वह सुबह 9 बजे तक नहीं खुलती ...। कारोबार और मनबहलाव के लिए दिन का अन्त असल में आधी रात में ही होता है; जब तक कि वहाँ कुछ शांति—कुछ ख़ित्तों में तो पूरी शान्ति—नहीं पसर जाती।'[10]

जिसे हम रात्रि जीवन मानते हैं उसमें कारोबार, मनबहलाव और रोशनी का निशाचरी दौर-दौरा शामिल है। रात का यह ख़ास माहौल दरअसल दुकानों (विशेष रूप से विलास-वस्तुएँ बेचने वाली), कहवाघरों और रेस्तराओं से छन कर सड़कों-फुटपाथों पर पड़ने वाली रोशनी से बनता है। यह रोशनी राहगीरों के बीच संभावित ग्राहकों को लुभाने का काम तो करती ही थी। विज्ञापन की इस व्यावसायिक उत्सवी रोशनी का स्वभाव पुलिसिया स्ट्रीट लाइट के ख़िलाफ़ जाता है। पुलिस की नज़र में व्यावसायिक रोशनी की वही हैसियत है जो राज्य की नज़र में बुर्ज़ुआ समाज की होती है। जिस तरह राज्य अपनी 'रात के पहरेदार' वाली ज़िम्मेदारी को अंजाम देते हुए बुर्ज़ुआ समाज को अपना काम चलाने के लिए हिफ़ाज़त की गारंटी देता है उसी तरह सार्वजनिक प्रकाश सुरक्षा का वह वातावरण निर्मित कर देता है जिसमें व्यावसायिक प्रकाश प्रकट हो सके। दुकान बढ़ाने के बाद जब उनकी बत्तियाँ गुल कर दी जाती हैं तो सड़कों पर लगी लालटेनों का प्रकाश, जिनकी हल्की सी टिमटिमाहट विज्ञापन की रोशनियों के समंदर में डूब जाती थी, एक बार फिर उभर आता है, और ये लालटेनें हमेशा की तरह व्यवस्था के अभिभावक की भूमिका अख़्तियार कर लेती हैं।

पुलिसिया लाइटिंग के विपरीत, जो कि बिल्कुल समरूप और समरस होती है, व्यावसायिक रोशनी को नाना प्रकार के स्रोतों से जलाया जाता है। आज भी शहर में इसी से नानाविध रंग पैदा होते हैं। व्यावसायिक लाइटिंग दुकानों में शुरू हुई और आज भी उसे अपनी ज़्यादातर रोशनी वहीं से मिलती है।

हाट झरोखा (Shop Windows)

सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों तक ख़ुदरा व्यापार की दुकानें अपने पीछे स्थित गोदामों की बैठकों जैसी ही हुआ करती थीं। दरअसल उनकी सादा और सहज साज-सज्जा के चलते उन्हें गोदामों से अलग करके देख पाना बड़ा कठिन था। परन्तु अपनी इस सादगी की भरपाई वह उन चमकदार तख़्तियों से करते थे जिन्हें यह बताने के लिए सड़क पर लटकाया जाता था कि वहाँ क्या चीज़ बिकती है। जब सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में ये पता चला कि इन तख़्तियों या साइन बोर्डों से यातायात में रुकावट पैदा होती है तो आधुनिक विज्ञापन जगत के ये कल्पनाशील अग्रदूत सड़कों से धीरे-धीरे ग़ायब होते चले गए। जैसा कि सोम्बार्ट कहते हैं, 'इन साइनबोर्डों का किसी मरते युग के प्रतीकों की तरह एक के बाद एक ग़ायब होना, अल्फ़ाज़ और रंगों की ख़ुशनुमा दुनिया से आकृतियों की बेरौनक दुनिया की तरफ़ संक्रमण का एक ऐतिहासिक क़दम था।'[11] मगर यह कहानी अधूरी है। दुकान की तख़्तियों के रंग-बिरंगे और सुंदर डिज़ाइन सड़कों से ग़ायब हो गए मगर—एक नई शक़्ल में दुकान के भीतर एक बार फिर नमूदार होने के लिए। युरोप की राजधानियों में सौन्दर्य और व्यवसाय का एक नया मिश्रण पक रहा था। विलास-वस्तुओं का व्यापार बुर्ज़ुआ व्यापारियों के हाथ में था परन्तु उनके ग्राहक लगभग पूरी तरह दरबारी कुलीन वर्ग के सदस्य थे। शहरों में विलास-वस्तुओं का व्यापार लगभग पूरी तरह दरबारों पर आश्रित था। यदि एक बार फिर सोम्बार्ट को उद्धृत किया जाए तोः 'विलासिता की चीज़ों की सजी-धजी दुकानें,

जिनकी तादाद ख़ास तौर से पेरिस और लन्दन में सत्रहवीं सदी के बाद काफ़ी तेज़ी से बढ़ी, उच्च समाज के लोगों के लिए उठने बैठने का एक बढ़िया अड्डा थी। यहाँ ऐसे लोग ख़ूब आते थे जो गप-शप करने, नई नई चीज़ों को निहारने और शौक़ के तौर पर कुछ चीज़ें ख़रीदने में दिन के घंटे दो घंटे बरबाद करने में कोई उज्र महसूस नहीं करते थे। वहाँ का नज़ारा आजकल की फ़ैशनेबल कला नीलामियों जैसा ही होता था।'[12]

दुकानों की नई सामाजिक भूमिका उनकी भीतरी साज-सज्जा और डिज़ाइन में भी दिखाई देती थी। अपने ग्राहकों की रुचि को देखते हुए दुकान मालिकों ने अपने विक्रय कक्षों को किसी महल के स्वागत-कक्षों जैसी शक्ल दे दी थी। इसमें इस्तेमाल होने वाली सबसे लोकप्रिय चीज़ें बेशक़ीमती लकड़ी संगमरमर, जस्ता, और ख़ास तौर से दरबारों में इस्तेमाल होने वाली चीज़ेंः काँच और आईना थे।

अठारहवीं सदी की शुरुआत में इस रूपांतरण से गुज़रने वाले व्यापारियों की बुर्जुआ, अतिशुद्ध नैतिकता के लिए यह नया वैभव एक अनजानी चीज़ था। *द कम्प्लीट ट्रेड् समैन* में डेफ़ो लिखते हैं 'यह एक आधुनिक रीति है। व्यापार को अपने कारोबार के अनुपात में ही देख पाने के आदी रहे हमारे पुरखों के लिए यह बात कल्पना के परे थी कि आजकल के व्यवसायी अपनी दो तिहाई पूंजी को महज़ अपनी दुकानें जमाने में ही सर्फ़ कर डालते हैं।'

> दुकान सजाने से मेरा आशय ये नहीं है कि वे दुकानों में बेचने के लिए सामान और माल रखते थे, क्योंकि इस मामले में तो वे हर लिहाज़ से हमारे जैसे ही हैं, मेरी मुराद तो दुकानों के रंग रोगन, खिड़की दरवाज़े, ख़ूबसूरत अलमारियों, शटर, बक्से, शीशे के दरवाज़ों, सैशे और ऐसी ही दूसरी चीज़ों पर होने वाले ख़र्चे से है, जिसके बारे में वो बताते हैं कि किसी पेस्ट्री या नानबाई की दुकान खोलने या खिलौनों की दुकान को बनवाने में अब दो सौ या तीन सौ पाउंड या बल्कि पाँच सौ पाउंड ख़र्च कर देना मामूली बात है। इससे जो पहला नतीजा निकलता है वह लाज़िमी तौर पर यह है कि इस युग में पिछले वक़्तों के मुक़ाबले ज़ाहिरा तौर पर कहीं ज़्यादा बेवकूफ़ लोग रहते हैं, क्योंकि केवल बेवकूफ़ ही दिखावे और बाहरी तड़क-भड़क से इतने प्रभावित होते हैं..., मगर इसमें कोई दो-मत नहीं कि बढ़िया अलमारी या काँच की खिड़कियाँ ही ग्राहकों को ललचाती हैं—यह बात अब तक भी कारोबार की दुनिया में कोई नियम नहीं है।[13]

तड़क-भड़क वाली दुकान की मिसाल के तौर पर डेफ़ो पेस्ट्री की एक दुकान के बारे में बताते हैं जिसमें तीन सौ पाउंड उसकी साज-सज्जा पर ख़र्च किए गए जबकि उसमें बेचने के लिए कुल बीस पाउंड का ही माल रखा गया था। डेफ़ो का यह विवरण विलास-वस्तुओं के व्यापार के प्रारम्भिक दिनों के उन विवरणों में से एक है जो हमारे समय तक बचे रह गए हैंः

1. सजावटी खिड़कियाँ—आईने के काँच से बनी हुई और चौड़ाई-लंबाई में 12x16 इंच।
2. दुकानों के सारे गलियारे गैली टाइलों से सुसज्जित और दुकान के पिछवाड़े पैनल में गैली टाइलें, जिन पर ख़ूबसूरत बारीक जंगली नक्काशी और आकृतियाँ बनी हैं।
3. पीयर कम्पनी के दो बड़े-बड़े आईने और दुकान में चिमनी का एक शीशा, दुकान के

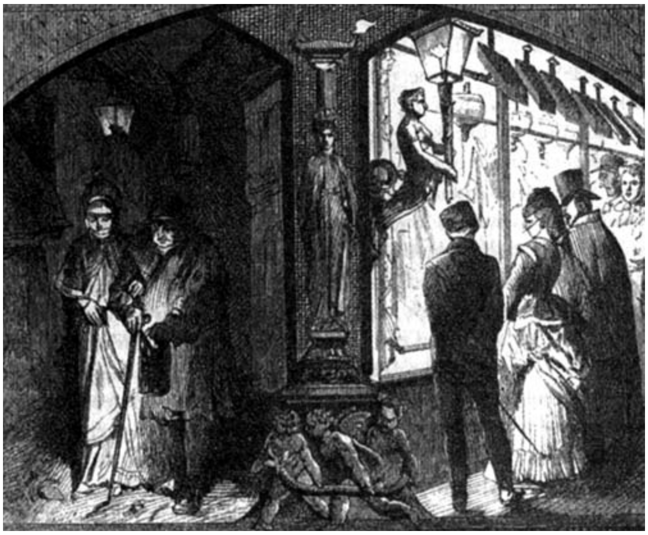

गैसलाइट से आलोकित दुकान की खिड़की
(1870 ई. के आस-पास)

पिछले हिस्से में पीयर शीशे का ही सात फुट ऊँचा टुकड़ा।

4. मोमबत्तियों की दो विशाल शाखाएँ—एक दुकान में, और एक दुकान के नेपथ्य कक्ष में।
5. दुकान में शीशे की तीन विशाल, और आठ छोटी लालटेनें (Lanthorns)।
6. दीवार से लगे हुए पच्चीस आले और पिछले कमरे में चाँदी के खड़े बत्तीदानों का विशाल जोड़ा।[14]

इसकी साज-सज्जा में इस्तेमाल किए गए शीशे, आईने और रोशनियों के सहारे यह दुकान निश्चय ही एक अत्यन्त चमकदार, ध्यान खींचने वाला बेजोड़ कमरा—लघु शीशमहल—बन गई होगी।[15] डेफ़ो के समय में यह सारा वैभव दुकान के भीतरी हिस्से तक ही सीमित था। परन्तु ग्राहकों की सामाजिक पृष्ठभूमि में बदलाव के साथ यह स्थितियाँ बदलने लगीं क्योंकि अब तक दुकानों में मोटे तौर पर जान-पहचान वाले ग्राहक ही आया करते थे जबकि अब ज़्यादातर ग्राहकों की दुकानदार से कोई जान-पहचान नहीं होती थी। जैसे-जैसे सड़कें संभावित ग्राहकों को दुकानों की ओर ठेलने लगीं, दुकानें भी वैसे-वैसे उन्हीं का रुख़ करके खुलने लगीं। बिकाऊ चीज़ों की नुमाइशी खिड़की (डिस्प्ले विन्डो) अठारहवीं सदी आते-आते दुकान का एक स्वतन्त्र हिस्सा बन गई। इस वक़्त आमुख के बदलाव में संक्रमण साफ़ दीखता है। पहले यह किसी साधारण खिड़की से बस कहने भर को ही बेहतर था जिसमें लोग दुकान के भीतर और बाहर देख सकते थे परन्तु अब यह शीशे में बंद एक ऐसा मंच था, जिससे प्रचार किया जाता था। 1780 के दशक में लंदन से सोफ़ी फ़ॉन ला रॉश ने लिखा था 'शीशे की विशाल खिड़कियों के पीछे के बारे में व्यक्ति जिस किसी भी चीज़ की कल्पना कर सकता है वह निश्चय ही बेहद साफ़

और मनमोहक ढंग से तथा इतनी क़िस्मों के साथ प्रदर्शित की जाती थी कि आदमी के भीतर लालच पैदा हुए बिना न रह सके। ज़नाना चीज़ें दिखाने के लिए एक बड़ी चतुर जुगत भिड़ाई गई है। ये कपड़े बारीक लम्बी-चौड़ी खिड़कियों के पीछे तह लगे टंगे होते हैं जिससे सहज ही पता लग जा कि किसी सामग्री की चीज़ कैसी बनेगी।'16

अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में दुकानों की नुमाइशी खिड़कियाँ अभी भी साधारण खिड़कियों जैसी ही लगती थीं। उनमें शीशे की एक परत नहीं बल्कि कई छोटी-छोटी परतें होती थीं जिनके बीच कई बारीक सीख़चे होते थे। सन् 1850 के आस-पास शीशे की बड़ी-बड़ी चादरें तैयार करना तकनीकी रूप से संभव हो गया और फलस्वरूप अब दुकान के अगले हिस्से को ख़ालिस शीशे का बनाया जा सकता था। जैसा कि 1851 में एक दर्शक ने प्रशंसा-भाव से कहा था, ऐसी दुकानें 'छत से लेकर ज़मीन तक शीशे का एक अविराम विस्तार होती हैं।'17 इससे वहाँ प्रदर्शन के लिए रखे सामानों की छवि पर ज़बरदस्त प्रभाव डाला। निर्बाध, पारदर्शी, चमकदार सतह फ्रेम में लगी पेंटिंग के शीशे जैसा काम करता थी। हिर्थ ने इस परिघटना को यूँ बयान किया है—'बेजान रंगों में... ताज़गी, चमक और स्वच्छता का पुट आ जाता है क्योंकि एक माध्यम के रूप में शीशा रंग-रूप को बदल देता है और आँखों को दिक पहुँचाता है।' इसके बाद उन्होंने एक फुटनोट लिखा हैः 'पेंटिंग्स को शीशे के नीचे रखने से वह और बेहतर दिखाई देने लगती हैं। सुरक्षात्मक शीशा अच्छी तस्वीरों पर भ्रम का एक और परदा डाल देता है। दुकान की खिड़कियों में लगी शीशे की प्लेट से भी कुछ चीज़ों में 'और बेहतर' होने का आभास पैदा हो जाता था।'18 कृत्रिम प्रकाश ने प्रदर्शन के लिए रखी गई चीज़ों को ज़्यादा आकर्षक बनाने में भी मदद दी। जैसे-जैसे दुकान के खुलने का समय देर शाम तक बढ़ता गया वैसे-वैसे इस कृत्रिम प्रकाश की अहमियत भी बढ़ती गई। 1775 में लंदन यात्रा के दौरान लिस्टन बर्ग ने देखा कि किस तरह दुकानदार रंग बिरंगी रोशनियों के ज़रिए स्पेशल इफ़ेक्ट्स पैदा करके अपनी दुकान की खिड़कियों की तरफ़ लोगों को खींचने की कोशिश करते हैंः 'दवाइयों और किराने की दुकानों पर शीशे लगे होते हैं... जिसमें तरह-तरह के रंगों वाले स्पिरिट रखे होते हैं और उनकी रक्ताभ, पीली, सब्ज़ और नीली रोशनी बड़े से घेरे में पड़ती रहती है। मिठाई की दुकानों में झाड़-फ़ानूस आँखों में कौंधते हैं और नथुनों को गुदगुदाते हैं—आपको बस उनकी तरफ़ मुड़ना है।'19 बर्लिन के पेस्ट्री बावर्ची अपनी खिड़कियों में 'कृत्रिम रूप से प्रकाशमान दृश्य दिखाते थे जिनमें प्रायः कृत्रिम रूप से नियोजित छोटी, त्रिआयामी आकृतियाँ होती थीं। यह पूरा दृश्य किसी डायोरामा (Diorama) जैसा लगता था।' माना जाता है कि डायोरेमा का विकास इन्हीं छोटी-छोटी प्रदर्शनियों से हुआ है।20 परन्तु अधिकांशतः दुकान की खिड़कियों में होने वाली लाइटिंग ने वही रास्ता अख़्तियार किया जिस रास्ते से रंगमंच की लाइटिंग विकसित हुई थी। जब तक प्रकाश इतना धीमा था कि उसे अप्रत्यक्ष रूप से, यानी परावर्तकों की सहायता से इस्तेमाल करना कठिन था, तब तक उन्हें खिड़कियों के अन्दर रखी चीज़ों के बीच में ही रखकर छोड़ दिया जाता था। जब गैस और बिजली के आगमन ने रोशनी के घेरे को और बढ़ा दिया तो प्रकाश का स्रोत नज़र से ओझल हो गया। उन्नीसवीं सदी के लगभग मध्य में लंदन की दुकानों में गैसबत्ती 'दुकान के बाहर, एक परावर्तक

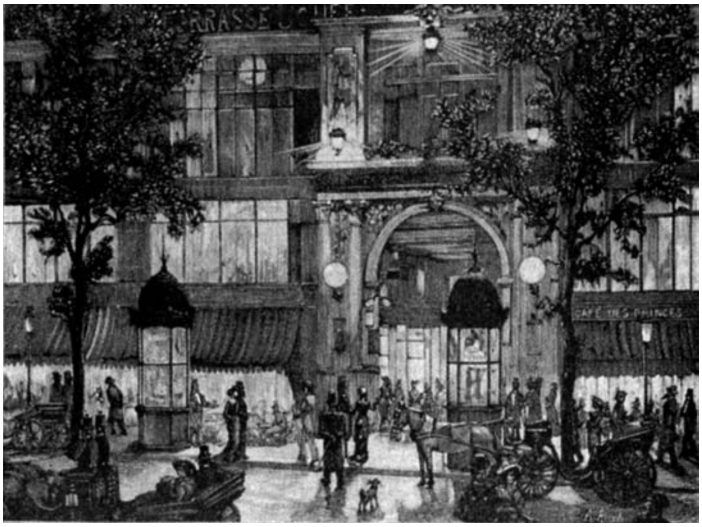

रात की चहल-पहल, पेरिस, 1849

के साथ इस प्रकार जड़ी जाती थी कि उसकी तेज़ रोशनी सीधे खिड़की में रखी चीज़ों पर ही पड़े।'21 बिजली से मिलने वाली रोशनी में आग लगने का ख़तरा नहीं था इसलिए उसे नुमाइशी खिड़की के बाहर लगाने की ज़रूरत नहीं थी। नतीजतन, अब वैसी ही लाइटिंग जैसा असर हासिल करना संभव हो गया जिसका अब तक मंच पर प्रयोग होता था। 1936 में प्रकाशित एक विज्ञापन-निर्देश पुस्तिका में कहा गया है कि दुकानों की खिड़कियों में 'एक जैसी रोशनी न हो। शक्तिशाली, अदृश्य परावर्तकों के ज़रिए अलग-अलग बिन्दुओं और वस्तुओं को उभारने पर ज़ोर दिया जाए।'22

मंच जैसी प्रकाशमान खिड़कियाँ, रंगशाला जैसी सड़कें और दर्शक की हैसियत में वहाँ से गुज़रने वाले राहगीर—महानगरीय रात के जीवन का नज़ारा यही है। जब उन्नीसवीं सदी में रात की छायादार सड़कें विकसित हुईं तो ऐसा लगा जैसे घर सड़क पर आ गया हो। देर रात गए पेरिस के boulevard des Italiens के बारे में एम्मा फ़ॉन नीन्डॉर्फ़ द्वारा 1854 में दिया गया विवरण है: 'हमेशा त्योहारों की तरह प्रकाशमान, सुनहरे कैफ़े, इठलाती भीड़, मस्त छैले, साहित्यिकार और सेठ-साहूकार। पूरा माहौल किसी ड्रॉइंग रूम जैसा मालूम पड़ता है।'23 वॉल्टर बेंयामिन के एक शब्द का सहारा लें तो सड़क एक 'इंटीरियर' जैसी लगती थी। इस तथ्य की एक सरल मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी है।24 घर के बाहर कोई भी ऐसी जगह जो कृत्रिम प्रकाश से लैस हो वह इसलिए घर के आन्तरिक वातावरण जैसी लगती है क्योंकि आस-पास के अंधकार से कटी रहती है मानो चारों तरफ़ अँधेरे ने उजाले के गिर्द एक दीवार खड़ी कर दी हो। यही बात 'तल-छत' पर भी लागू होती है। सामान्य प्रयोग से पता चलता है कि हम अँधेरे से निकलकर उजाले के घेरे में जाते हैं—फिर यह घेरा चाहे हाथ सेंकने के लिए जलाई गई लकड़ियों का हो या प्रकाशमान छायादार सड़कों का। छायादार सड़कों की 'बग़ल वाली दीवारें', एक 'कमरे' के रूप में दोनों तरफ़ के घरों की क़तारों से परिभाषित होती थी। इन घरों में दुकानों की खिड़कियाँ, रेस्तराँ

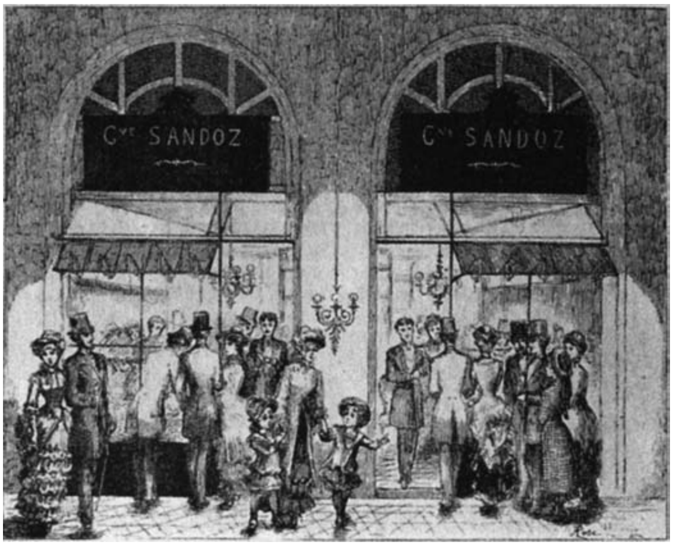

रात की ज़िंदगी, पेरिस, 1861

और कैफ़े भी शामिल थे। छायादार सड़क की 'तल-छत' व्यावसायिक उजाले की सरहद, यानी लगभग पहली मंज़िल की ऊँचाई पर होती थी।

जब तक दुकानों की रोशनी ने घरों के बाहर एक 'इंटीरियर' दायरा निर्मित नहीं किया था तब यह एक संक्रमण के काल से गुज़र रही थी। उस समय यह एक ऐसे क्षेत्र के रूप में विकसित हो रही थी जो एक अकेली दुकान से बड़ा परन्तु छायादार सड़क जितना बड़ा नहीं थाः काँच की छत वाले तोरण, बरामदे या गलियारे। इस क़िस्म का व्यावसायिक स्थान सबसे ज़्यादा पेरिस में ही विकसित था। पेरिस में 1790 से 1830 के बीच रात की ज़िन्दगी का केन्द्र पैलेस रॉयल था। उसमें बनाई गई गालेरी ऑरलेयों अपने क़िस्म की पहली ऐसी जगह थी। सन 1800 (यानी गैस लाइटिंग के आने से पहले) में एक जर्मन सैलानी ने लिखा था कि 'ये वाक़ई एक शानदार नज़ारा है। शाम और रात ढलने के बाद दुकानों में उजाला करने वाले एरगाँ के शानदार लैम्प। उजाले में रखी चीज़ें ज़बरदस्त चमक के साथ एक नई आभा देती थीं और उधर गलियारों में गुज़रती भीड़ पर परावर्तिका की तेज़ रोशनी पड़ती थी।'[25] 30 साल बाद गैसबत्ती की रोशनी में भी यही नज़ारा थाः 'पॉलिशदार महोगनी और विशाल आईनों वाली दीवारों... की सतह पर एक हज़ार रौशनियाँ परावर्तित होती हैं। इस चमक-दमक से आक्रान्त अजनबी को पैलेस रॉयल एक बाज़ार जैसा दिखाई देता है।'[26] जब 1830 के बाद पैलेस रॉयल उपेक्षा का शिकार हो गया विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया में गालेरी ऑरलेयों की भूमिका पेरिस के असंख्य तोरणों ने ले ली। विकेन्द्रीकरण की यह प्रक्रिया रात की ज़िन्दगी के विस्तार की प्रक्रिया भी थी। इन नए स्थानों के समकालीन विवरण एकदम उन्हीं शब्दों में व्यक्त किए जाते हैं जिनमें गैलरी ऑरलियन्स को बयान किया गया था। ऐसा लगता है कि लोग रोशनी और प्रदर्शन के लिए रखी गई चीज़ों तथा जीवन्त भीड़ की अंतःक्रिया

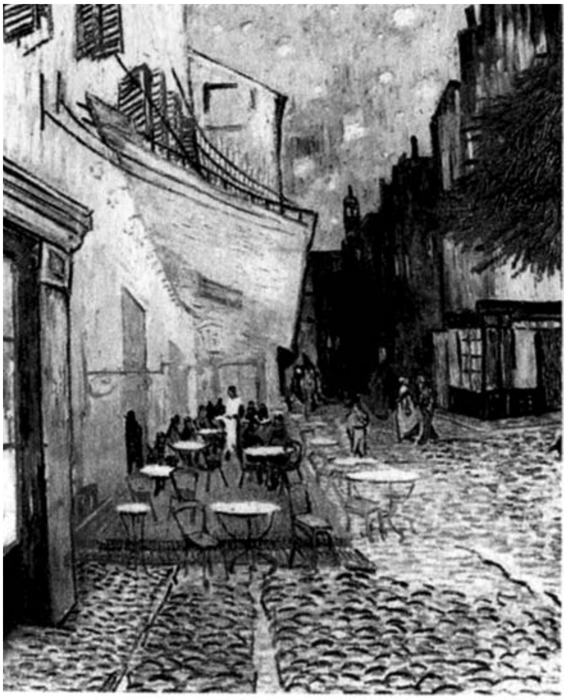

विंसेंट वैन गॉगः *कैफ़े ऐट नाइट*

से आकर्षित होते थे। 'रोशनी के समुद्र में इन्द्रधनुषी पुलों की तरह सतरंगी गलियारों की विशाल भूलभुलैया। एक नितान्त जादुई दुनिया। हर शै जादुई, बल्कि कल्पना की सीमाओं से भी ज़्यादा जादुई।'27

उजाले की इस प्रगति में एक अन्तिम क़दमः छतदार जगह से खुले में पड़ने वाली रोशनी का उदय। नीचे दिए गए विवरण हैं तो छायादार सड़कों के बारे में परन्तु वह तोरण या गालेरी ऑरलेयों के भी हो सकते थे। 'हर ओर दमकती दुकानें, बेजोड़ प्रदर्शन, चमक-दमक में डूबे कैफ़े और हर वक़्त जलने वाली रोशनी ..... दुकानों से इतनी तेज़ रोशनी निकलती थी कि आप चाहें तो टहलते-टहलते ही अख़बार भी पढ़ सकते हैं।'28 'गैस से जलने वाले लैम्प चमकते हैं और लटके हुए लैम्पों में आभा रहती है। और दोनों के बीच तंबाकूफ़रोशों की लाल लालटेनें और दवा विक्रेताओं के नीलवर्णी शीशे के गोलक—पारदर्शी तख़्तियाँ पेरिस की रात की ऐश्वर्य का विशाल, आग्नेय अक्षरों में ऐलान करती हैं और भीड़ कभी इधर है कभी उधर।'29

1850 और 1870 के बीच शहर के बारे में बताने वाली निर्देशिकाओं और सफ़रनामों में इस तरह की कई छवियाँ देखी जा सकती हैं। उनके शीर्षकों की एक झलकः गैस का उजाला और दिन का उजाला; Paris au Gaz; Paris bei Sonnenschein und Lampenlicht; और गैस के उजाले में न्यूयॉर्क।30 ये दो दशक गैस लाइटिंग का स्वर्णिम काल थे। गैस पश्चिमी युरोपीय और अमेरिकी समाज की सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक बुनावट में मज़बूत जड़ें जमा चुकी थी। पहले के एतराज़ और डर ग़ायब

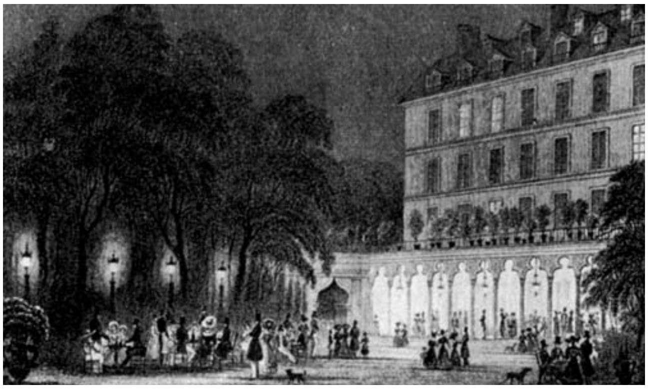

पेरिस : पैलेस-रॉयाल का बाग़
'यह वाक़ई एक शानदार नज़ारा है — ख़ूबसूरत अरगाँ लैंप शाम को दुकानों को आलोकित करते हैं और रात में भोग-विलास की वस्तुएँ ख़ूब चमकती हैं... (सन् 1800 के एक यात्रा वृत्तांत से। स्रोतः ए. पुगिन और सी. हीथ, *पेरिस ऐंड इट् स एनवायरंस*, लंदन, 1831)

हो चुके थे और इसका आधुनिक वारिस, विद्युतीय प्रकाश अभी पटल पर नहीं आया था। रेलवे की तरह गैसलाइट भी मानवीय एवं औद्योगिक प्रगति के प्रतीक के रूप में शिखर पर विराजमान थी।

बहरहाल, अभी भी गैसबत्ती एक खुली लौ के साथ ही जलती थी। उजाले के पुराने स्रोतों के मुक़ाबले यह कितनी भी कार्यकुशल, निरपेक्ष और बुद्धिसंगत क्यों न दिखाई देती हो परन्तु इसमें अभी भी खुली लौ का एक जीवंत और जादुई गुण क़ायम था। अगर यह पिछली किसी भी रोशनी के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा बड़े दायरे को रोशन करने वाली मंहगी रोशनी होने के मायने में आधुनिक थी तो दूसरी तरफ़ अभी भी लौ से बंधे होने के कारण 'पुराने ज़माने' की रोशनी भी थी। युरोप की राजधानियों में 1850 और 1870 के बीच रात की ज़िन्दगी के माध्यम के तौर पर उसकी अपील का स्रोत संभवतः पुराने और नए का यह संगम ही था। गैस से रात में उजाला करना लोगों की भावनाओं को झकझोरता था क्योंकि यह प्राकृतिक व्यवस्था पर विजय का प्रतीक था और वह भी विद्युतीय प्रकाश की जीवन रहित कठोरता से मुक्त। गैसबत्ती में जीवन, गरमाहट और निकटता का भाव निहित था। और यही बात इसकी रोशनी और दुकानों की जिन चीज़ों पर यह पड़ती थी उनके बीच बनने वाले संबंध के बारे में भी सच थी। दोनों एक-दूसरे के नज़दीक थे, बल्कि दोनों एक-दूसरे को बेधते थे और दोनों ही परस्पर एक-दूसरे के प्रभाव में भी वृद्धि करते थे। विलास-वस्तुओं की चीज़ों की उन दुकानों के ब्यौरों से यही पता चलता है जिनमें भरपूर उजाला रहता था।

यहाँ भी विद्युतीय प्रकाश ने एक क़िस्म की लोचहीनता, ठंडापन और दूरी का भाव पैदा कर दिया। इसने छायादार सड़क 'बैठक' की 'तल-छत' को छत के स्तर तक ऊपर उठा कर खोल दिया। इसके बाद से व्यावसायिक प्रकाश नुमाइशी झरोखे से कटकर इस दूर स्थित बिन्दु पर अपने एक निजी, स्वतन्त्र

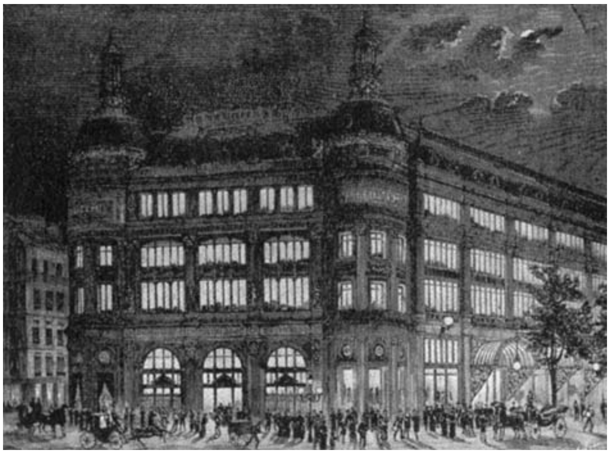

रोशन डिपार्मेंट स्टोर (1883)

दायरे में चला गया। 1928 में अर्न्स्ट मे ने लिखा कि टाइम्स स्क्वेयर की विज्ञापन रोशनियों ने उनको किस क़दर मुतास्सिर कियाः 'यहाँ आँखें कुछ नहीं पढ़ती, वो किसी आकृति को नहीं पहचान सकतीं। वो तो बस चमकदार रोशनियों, और एक-दूसरे के असर को काटने वाली रोशनी की असंख्य धार के प्राचुर्य में खोकर रह जाती हैं।'[31]